RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-03
Issue-09
September-2018

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

समाज सुधार आन्दोलन एवं महिला सुधारः एक आलोचनात्मक विमर्श

अनिल कुमार

जे. आर. एफ., मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतीय इतिहास में 19 वीं शताब्दी राजनीतिक घटनाओं के अतिरिक्त समाज सुधार आन्दोलन के लिए भी विख्यात है। इस समय भारतीय समाज और धर्म अनेक रूढ़ियों तथा कुप्रथाओं से ग्रस्त हो चुका था। अंग्रेजी ने भी प्रारम्भ में इस कुव्यवस्था को हटाने की बजाय उसका उपयोग अपनी सत्ता को मजबूत करने हेतु किया किन्तु समय के अनुसार बदली परिस्थितियों में धीरे–धीरे भारतीयों का अपने समाज और धर्म के प्रति द्रष्टिकोण बदलने लगा। पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान–विज्ञान के सम्पर्क से भारतीयों में भी नई चेतना जाग्रत हुई। अंग्रेजी शासन की बुराईयों, नए भारतीय समाजिक वर्ग के उदय तथा प्रबुद्ध भारतीयों द्वारा अपनी सामाजिक एवं धार्मिक कुप्रथाओं को हटाने की चाह ने भारत में एक सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलन को जन्म दिया। इसका मुख्य उद्देश्य समाजिक कुरीतियों को दूर करना तथा महिलाओं और पुरूषों में समता की भावना जाग्रत करना था। इसका सर्वप्रथम प्रश्न यही था कि स्त्रियों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाए अर्थात सती प्रथा पर्दाप्रथा, बाल विवाह, शिशुवध, बहुपत्नी विवाह का अन्त हो तथा विधवा पुनर्विवाह को लोकप्रिय बनाया जाए।[1] अतः 19 वीं सदी के समाज सुधार आंदोलन में महिला सुधारों की प्रमुखता दृष्टिगत होती है।

उस समय समाज की सर्वप्रमुख समस्या सतीप्रथा थी जिसमें समाज द्वारा स्त्री को पति के संग शास्वत और निर्विघ्न रुप से जन्म जन्मांतर तक रहने को मजबूर किया जाता था और उसके प्रमाण के रूप में पति की मृत्यु के बाद उसकी चिता में पत्नी को भी जला दिया जाता था। यद्यपि इस पर कार्नवालिस, मिन्टों तथा लार्ड हेस्टिंग्ज ने भी प्रतिबंध लगाने के कुछ प्रयास किए थे किन्तु वे इसमें सफल न हो सके किन्तु राजा राम मोहन राय ने 1820 के दशक में इस पर महान प्रहार किया और इन्हीं के प्रयासों से 1829 में लार्ड विलियम बैंटिंग ने नियम 17 के अनुसार पति के साथ विधवाओं को जीवित जलाने पर प्रतिबंध लगा दिया।

एक अन्य क्रूर प्रथा जो मुख्यतः बंगालियों तथा राजपूतों में प्रचलित थी वह थी बालिका शिशुओं को एक महान भार मानकर उनकी शैशव काल में हत्या करना। भारतीय तथा अंग्रेजी प्रबुद्ध व्यक्तियों ने इसकी घोर आलोचना की और अततः 1804 में शिशुहत्या को समान्य हत्या में शामिल किया गया तथा 1870 में भी इसकी रोकथाम को प्रभावी व्यवस्था की गई।

इसके पश्चात् स्त्रियों के लिए विधवा विवाह पर प्रतिबंध भी एक प्रमुख समस्या थी। ब्रह्म समाजियों ने इस प्रश्न पर व्यापक स्तर पर वाद विवाद किया जिसमें सर्वप्रमुख कार्य कलकत्ता संस्कृत कालेज के आचार्य ईश्वरचन्द विद्यासागर का था। उन्होने पुराने संस्कृत तथा वैदिक उल्लेखों से यह सिद्ध किया कि वे वेद विधवा विवाह की अनुमति देते है। उन्होनें लगभग एक हजार हस्ताक्षरों से अनुमोदित एक प्रार्थना पत्र भारत सरकार को भेजा और अंत में 1856 के अधिनियम 15 द्वारा विधवा पुनर्विवाह को वैध मान लिया गया। पश्चिमी भारत में डी.के. कर्वे तथा मद्रास में वीरेसलिंगम पण्टुलु ने भी काफी प्रयास इस दिशा में किए। कर्वे ने विधुर होने पर 1893 में स्वयं एक विधवा ब्राह्मणस्त्री से शादी की। 1899 में पूना में एक विधवा आश्रम स्थापित कर उच्चवर्ग की विधवाओं को अध्यापिका, डाक्टर नर्से बनाकर उनके जीवन में एक नया उत्साह भरने का प्रयास किया। 1906 में बम्बई में एक भारतीय स्त्री विश्वविद्यालय भी स्थापित किया।[3]

इस समय के समाज की एक बहुत बड़ी कुप्रथा बाल विवाह भी थी। यद्यपि 1872 में एक कानून द्वारा जिसे प्रायः 'Civil marriage Act' कहते थे, 14 वर्ष से कम आयु की कन्याओं तथा 18 वर्ष से कम आयु के लड़कों का विवाह वर्जित कर दिया गया तथा बहुपत्नी प्रथा भी समाप्त कर दी गई। किन्तु यह हिन्दू मुस्लिम तथा अन्य मान्यता प्राप्त धर्मावलम्बियों पर लागू नही होता था और इसका भारतीय समाज पर कोई प्रभाव नही हुआ। अंत में एक पारसी समाज सुधारक बी.एम. मालाबारी के प्रयत्नों के फल स्वरूप Age of Content Act पारित कर 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया गया।[4]

इसके अतिरिक्त 19 वीं शताब्दी में हिन्दुओं में एक मनगढ़ंत जनश्रुति प्रचलित थी कि शास्त्रों में स्त्री शिक्षा की अनुमति नहीं है और शिक्षित स्त्री को देवता लोग वैधव्य का दण्ड देते है। ईसाई धर्म प्रचारकों ने उनका उद्देश्य जो भी हो किन्तु सर्वप्रथम स्त्री शिक्षा के लिए 1819 में एक कलकत्ता तरूण स्त्री सभा की स्थापना की। परन्तु वास्तविक काम शिक्षा परिषद के अध्यक्ष जी0ई0डी0 बेथ्यून ने किया। इन्होंने 1849 में कलकत्ता में एक बालिका विद्यालय स्थापित किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बंगाल में लगभग 35 बालिका विद्यालय स्थापित किए। बम्बई में एलफिंसटन कालेज के विद्यार्थी स्त्री शिक्षा के अग्रदूत बन गए। इन्होनें पुस्तकालयों तथा वैज्ञानिक सभा की स्थापना की। 1857 के चार्ल्स वुड के पत्र में भी स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया गया। कलांतर में शिक्षा स्त्रियों की दशा सुधारने का एक मुख्य अंग बन गयी।[5]

समाज सुधार आन्दोलन में महिला सुधारों हेतु किए गए इन तमाम प्रयासों के बावजूद भी यह बात सर्वविदित है कि समाज सुधारको की जमात के अधिकांश सदस्य उच्च जातियों तथा संभ्रान्त परिवारों से थे। चूंकि इन्ही वर्ग की स्त्रियां परम्पराओ एवं कट्टरपंथी रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं से जकड़ी हुई थी और पश्चिमी

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

शिक्षा तथा संस्कृति से प्रभावित इन युवा समाज सुधारकों को एकल परिवार के लिए उपयुक्त पढ़ी–लिखी सुसंस्कृत पत्नी और मां की तलाश थी। इन्होनें स्त्री शिक्षा पर जोर इसीलिए दिया क्योंकि 19 वीं सदी के बदलते परिवेश में पारंपरिक अर्थो में गुणसम्पन्न नारी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से लाभान्वित तथा पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित पुरूषों की अपेक्षा में खरी नही उतर पा रही थी। इस शिक्षा का उद्देश्य स्त्रियों का व्यक्तित्व विकास कर या रोजगारपरक बनाकर आत्मनिर्भर करना नही था, वरन् आधुनिक व पश्पात्य शिक्षा प्राप्त पतियों की आकांक्षाओं के अनुरूप बनाना था।

पण्डिता रमाबाई पर लिखी गई पुस्तक में उमा चक्रवर्ती कहती है कि नई महिला शिक्षा भी पुरानी पितृसत्तात्मक शिक्षा व्यवस्था से गुणात्मक रूप से भिन्न नही थी, जिसके फलस्वरूप स्त्रियों में स्त्री विरोधी मूल्यों को समाप्त करने के बजाय उनका आधुनिकीकरण और पाश्चात्यीकरण कर दिया गया। मसलन पतिव्रता की जगह पति–पत्नी के शुद्ध व पवित्र प्रेम ने ले लिया। किंतु इन दोनों परिस्थितियों में ही पति में पूर्ण आस्था और उसकी पूर्ण अधीनता जरूरी थी।[6] बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त ऊँची जाति के समाज सुधारकों के नारी उत्थान के प्रयासों पर सुमित सरकार ने अपने लेख ''The Women's question in 19th Century in Bengal'' में कहा कि ''समाज सुधारकों के ये प्रत्यत्न उदारवादी विचारधारा से प्रभावित नही थे बल्कि परिवार के अंदर पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित पति तथा रूढ़िवादी परम्परा में पली–बढ़ी पत्नी के बीच आपसी तालमेल के कठिनाइयों की वजह से थे। महाराष्ट्र की तरह बंगाल में भी इस असुविधा से पार पाने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया।''[7] अतः महिला शिक्षा का उद्देश्य महिलाओं का स्वावलंबन, आत्मविकास या उनका शसक्तीकरण नही था, बल्कि पितृ सत्तात्मक व्यवस्था के अंदर रहने वाली एक अच्छी मां या अच्छी जीवन साथी का निर्माण था।

स्त्रियों की स्थिति पर समग्रता से दृष्टिपात किया जाय तो इन समाज सुधारकों के महिला प्रयासों का दायरा भी सीमित लगता है। इन्होंने उपेक्षित जातियों तथा दलित महिलाओं की समस्या को देखने का प्रयास ही नही किया तथा सम्भ्रांत वर्ग की स्त्रियों की पितृसत्तात्मक बेड़ियों को तोड़ना इनकी प्राथमिकता नही थी। ज्योतिबाराव फूले, पंडिता रमाबाई, महात्मा गांधी जैसे कुछ सुधारकों को छोड़कर अधिकतर समाज सुधारकों ने जाति व्यवस्था और लिंग असमानता को मान्यता देने वाले शास्त्रों को नही नकारा जो उस समय की सामाजिक रूढ़ियों की जड़ थे।

एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ''पार्थ चटर्जी'' के अनुसार, समूचे राष्ट्रीय संघर्ष के दौरान आम बहुसंख्यक भारतीयों की सर्वोच्च प्राथमिकता राष्ट्रीय संस्कृति का पुर्नत्थान, संरक्षण व संवर्धन था। यहाँ राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ ऊंची जातियों की संस्कृति था। यही कारण है कि इन समाज सुधारकों ने अपने प्रयासों को सवर्ण महिलाओं तक ही सीमित रखा। जो शिक्षा का प्रसार किया गया उसका उद्देश्य मूलतः स्त्रियों के स्त्रीजन्य गुणों का विकास करना था। इनमें घरेलु काम की दक्षता, दया, करूणा, त्याग आदि की शिक्षा को प्रबल बनाया गया।[8]

शेखर बंद्योपाध्याय कहते है कि बंगाल का समाज सुधार आंदोलन पश्चिमी शिक्षा से लैश कुलीनों की छोटी संख्या तक ही सीमित था जिन्हें भ्रदलोक कहा जाता है। इन्होंने महिला सुधारों को साधारण जनता तक ले जाने का कोई प्रयास नही किया क्योंकि सिर्फ सवर्ण महिलाओं की दशा ही इस वर्ग को प्रभावित करती थी। ये इस बात से भी स्पष्ट होता है कि राजा राम मोहन राय ने अपने प्रयासों में एक संस्कृतमय बंग्ला भाषा का प्रयोग किया जो अशिक्षित कृषकों, दशतकारों के समाज से परे रहा। पश्चिमी भारत में भी प्रार्थना समाज पर चितपावन ब्राह्मणों का वर्चस्व था। मद्रास प्रेसीडेन्सी में भी ब्राह्मणों का ही वर्चस्व था जोकि अपने प्रयासों को सीमित उद्देश्यों, सवर्ण वर्गों तथा मोटी किताबों और बड़े–बड़े लेखों तक सीमित रखते थे, जोकि साधारण जनता की पहुंच से परे था।[9]

इसके साथ ही साथ समाज सुधार आंदोलन का दायरा पुररूत्थावाद की तरफ था। इस पुनरूत्थान को आधुनिक जामा पहनाने के लिए आवश्यक था कि स्त्री सम्बंधी प्रश्न भी वैदिकालीन मापदण्डों पर जाँचे जाएं। इस प्रकार उत्तर भारत का सबसे बड़ा समाज सुधारक आंदोलन आर्यसमाज भी एक वर्गविहीन और शोषणरहित समाज की कल्पना नही कर रहा था। गोपाल जोशी के लेख ''भारत में स्त्री असमानता एक विमर्श'' में कहा गया है कि, आर्य समाज आंदोलन में योनशोषण से रहित समाज की कल्पना भी नही की गई। अन्य आंदोलन की भांति यह भी पूरे देश में फैल गया मुख्यतः यह व्यापारी वर्ग में लोकप्रिय हुआ और व्यापारी वर्ग का चरित्र हमेशा रूढ़िवादी पाया गया है। दयानंद सरस्वती ने भी स्त्री की पारिवारिक भूमिका मां और पत्नी को ही आदर्श स्थिति में लाने का प्रयास किया। हलांकि दयानंद स्त्री के मानवीय समर्थक थे किंतु उनके एक पत्नी व्यवस्था का उद्देश्य भी समाज में असमान रिश्ता, जिसमें महिला वर्ग को हमेशा पुरूष की सेवा करना सिखाया गया, को ही स्थापित करना था। स्त्रियों पर यौन सम्बंधी नियंत्रण आवश्यक बताए गए ताकि वैध बच्चे पैदा हो सके जिससे वैध उत्तराधिकारी प्राप्त कर निजी सम्पत्ति का संरक्षण सुदृढ़ किया जा सके। धार्मिक क्षेत्र में आर्य समाज ने माना कि सभी जातियों व स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है क्योंकि अज्ञानी पत्नी अपने पति के समाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अनुष्ठानों में भाग नहीं ले पाती, शिक्षा के अभाव में स्त्री की दक्षता भी विकसित नही हो पाती थी तथा एक के शिक्षित होने व एक के अशिक्षित होने से ग्रहस्थ जीवन में तनाव उत्पन्न होने की आशंका थी। आर्य समाज ने स्वयंवर प्रथा को मान्यता दी तथा उच्च जातियों के कुछ अपवाद छोड़कर विधवा–विधुर पुनिर्विवाह को भी वर्जित कर दिया जिसका कारण सम्पत्ति के बंटवारे को रोकना था।[10]

उमा चक्रवर्ती और कुमकुम राय ने प्राचीन भारत को स्त्री के लिए आदर्श की तरह चित्रित करने को औपनिवेशिक मानसिकता मानती हैं। उन दिनों की एक अहम औपनिवेशिक मानसिकता यह थी कि धर्म मानव का आधार है तथा वह ग्रन्थों से सूत्रबद्ध है और ग्रन्थों पर ब्राह्मणों और पुरोहितों का हमेशा से एकाधिकार रहा है अतः ग्रन्थ महिलाओं की उसी स्थिति की पुष्टि करते थे जो ब्राह्मणों व पुरोहितों की मंशा थी। स्त्रियों की स्थिति पर किसी बहस में स्त्रियों को शामिल नही किया गया, वरन शास्त्र सम्वत नही थी इसलिए उस कुरीति का विरोध किया गया।[11] **लतामणि** कहती है

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

कि सतीप्रथा के प्रश्न पर न स्त्रियां विषय थी न विषयीं वह सिर्फ इसका आधार थीं। इस वाद–विवाद में उनकी किसी प्रासंगिकता को शामिल करने के स्थान पर शास्त्रों की अनुकूलता–प्रतिकूलता को ज्यादा प्रासंगिक माना गया।[12] आर्य समाज के अलावा ब्रह्म समाज ने भी वेदों को ही आधार बनाकर समाज सुधार की वकालत की, हिंदू समाज की कुरीतियों को दूर कर वैदिक कालीन शुद्ध समाज की स्थापना के लिए 1828 ई0 में ब्रह्म समाज की स्थापना हुई जिसकी 1888 में 124 शाखाएं थीं।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी का समाज सुधार आंदोलन अपने उद्देश्यों तथा दायरे में सीमित था किंतु फिर भी इसमें ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिल सोसाइटी तथा अन्य प्रबुद्धों के माध्यम से उस समय की समाज की स्त्रियों से सम्बंधित कुरीतियों का विरोध और विधवा पुनर्विवाह को मान्यता प्रदान करने सम्बंधी जो कार्य किए गए और उनमें सफलता हासिल की गई, वह नारियों की दशा को सुधारने में युगांतकारी उपलब्धियां ही कही जाएंगी। हलांकि इसमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था, महिला उत्पीड़न, दासता, असमानता आदि के मुद्दों तथा महिला सशक्तीकरण और आर्थिक व्यवस्था में महिलाओं की भूमिका को सशक्त बनाने सम्बंधी प्रयास कर इसे और भी प्रभावी, आदर्श तथा प्रासांगिक बनाया जा सकता था।

संदर्भ ग्रंथ

1. चंद्रा विपिन– 'भारत का स्वतंत्रता संघर्ष'
2. जोशी, वी0सी0– 'Ram Mohan Roy and the process of modernization in India'
3. दत्ता, के0के0– 'Social History of India'
4. सेन, अमित– 'Notes on the Bangal Renaissance'
5. पाणिक्कर, के.एन.– 'Culture Ideogy and Hegemony'
6. चक्रवर्ती, उमा– Rewriting History:; The life and times of pandita Ramabai'
7. सरकार, सुमित– The Womens question in 19th Century in Bengal'
8. चटर्जी, पार्थ– 'The Nation and its frogments : Colonial and post colonial History'
9. बंधोपाध्याय, शेखर– 'प्लासी से विभाजन तक'
10. जोशी, गोपाल– 'भारत में स्त्री असमानता एक विमर्श'
11. राय, कुमकुम – (a) 'The Cultures of History in early modern India'
    (b) 'Insights and Interventions'
12. लतामणि– 'The Debate on Sati in Colonial India'

© RRIJM 2015, All Rights Reserved